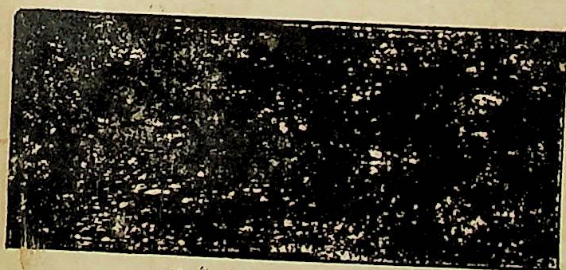
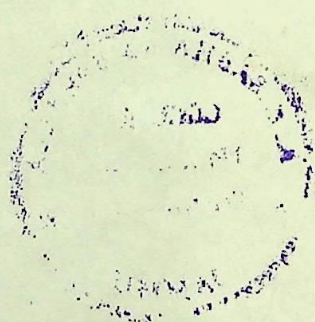
चौराहे पर खड़े बारह चेहरे





चौराहे पर खड़े बारह चेहरे

सम्पादक :

जवाहर रैणा

युवा हिन्दी लेखक संघ, जम्मू ।





युवा हिन्दी लेखक संघ,
235—रिहाड़ी, जम्मू
द्वारा प्रकाशित

●

स्पेसएज प्रिंटर्ज, महेशी गेट, जम्मू द्वारा मुद्रित

मूल्य : आठ रुपये

●

प्रथम संस्करण : सितम्बर 1974

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ जम्मू-कश्मीर ललितकला, संस्कृति तथा साहित्य अकादमी, जम्मू से आंशिक आर्थिक सहायता प्राप्त हुई है किन्तु पुस्तक की किसी प्रकार की त्रुटि के लिए अकादमी उत्तरदायी नहीं है।

अनुक्रम

भूमिका



जम्मू-कश्मीर एक अहिन्दी मातृभाषी प्रदेश है। यहां हिन्दी भाषा के समर्थकों को सदा कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। जम्मू के साहित्यकारों के हृदय में कुछ ऐसी भावना रही है कि उनकी मातृभाषा हिन्दी - भाषा - संघ की एक कड़ी है। इसी भावना को लेकर यहां से हिन्दी की कई पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं जिन में स्थानीय साहित्यकारों के अतिरिक्त बाहर के साहित्यकारों की रचनाएं भी छपती रहीं। हिन्दी के इन लेखकों में स्वर्गीय बंसी लाल सूरी, सुश्री शकुन्तला सेठ, श्री शंकर शर्मा पिपासु, श्री दुर्गा दत्त शास्त्री, श्री रामकृष्ण शास्त्री तथा डॉ० गंगा दत्त 'विनोद' जैसे साहित्यकार निरन्तर हिन्दी साहित्य की सेवा में संलग्न रहे। संधियुग के डॉ० विद्यानाथ गुप्त, सर्वश्री सुभाष भारद्वाज, चन्द्रकान्त जोशी, मनसाराम शर्मा 'चंचल' उल्लेखनीय हैं। डॉ० ओम प्रकाश गुप्त, सर्वश्री ज्योतीश्वर पथिक, सुतीक्ष्ण कुमार आनन्दम्, विमल कान्त भसीन, रमेश मेहता, निर्मल विनोदी, जगमोहन, अशोक जेरथ, श्यामनारायण राय, कुमारी नीलम खोसला, कुमारी सिम्मी गुप्ता तथा सुश्री उषा व्यास 'छवि' के नाम सतत अग्रगामी कदमों में गिनाए जा सकते हैं।

जम्मू-कश्मीर राज्य की अपनी सांस्कृतिक अकादमी होने के बावजूद इस प्रदेश के साहित्यकारों की रचनाओं का कोई अच्छा संकलन सामने नहीं आ पाया। 'युवा हिन्दी लेखक संघ' की स्थापना प्रमुखतया इसी उद्देश्य से की गई कि जम्मू के साहित्यकारों की रचनाओं का प्रकाशन किया जा सके।

प्रस्तुत कविता संग्रह इस दिशा में किसी संस्था या व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला इस प्रकार का प्रथम प्रयास है। इस संकलन में कुल बारह कवियों की रचनाएं संग्रहीत हैं; प्रयास यह रहा है कि रचनाओं की विधा हिन्दी की 'नई कविता' के समीप रहे।

श्री सुभाष भारद्वाज जम्मू के प्रमुख हिन्दी कवियों में से हैं। जम्मू में 'नई कविता' के सम्भवतः यह प्रथम लेखक हैं। आजकल की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के वे कट्टर विरोधी हैं।

डॉ० ओम प्रकाश गुप्त यहां के प्रमुख युवा लेखक हैं। वे 'नई कविता' की मशाल लेकर युवावर्ग का पथ प्रदर्शन कर रहे हैं। उनकी कविताओं में एक ओर मजबूरी का आभास होता है तो दूसरी ओर उनमें से क्रान्ति की आवाज़ आती है।

श्री ज्योतीश्वर 'पथिक' की कविताएं मार्मिकता से भरपूर हैं। इनमें निराशा का स्वर भी प्रकट होता है। पथिक जी के नव-गीत विशेष सराहनीय बन पड़े हैं—क्योंकि वे प्रकृति से दूर नहीं रहते।

श्री सुतीक्ष्ण कुमार 'आनन्दम्' एक युवा लेखक तथा कवि हैं। वे प्रायः कश्मीरी तथा डोगरी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में करते हैं। उनका कवि बहुत व्याकुल है।

श्री रमेश मेहता आगे की ओर बढ़ते हुए युवा कवि

हैं। वे नये नये प्रतीक तथा बिम्ब हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

श्री निर्मल विनोदी भी नये प्रतीकों तथा बिम्बों का प्रयोग करते हैं।

श्री जगमोहन एक ऐसे युवक कवि हैं जो बेईमान व्यवस्था से किसी भी स्तर पर समझौता नहीं कर पाते।

श्री अशोक जेरथ को भी वर्तमान व्यवस्था पर कोई विश्वास नहीं है।

श्री श्यामनारायण राय जम्मू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के शोध-छात्र हैं। वे तुलसीकृत 'रामचरितमानस' का अध्ययन कर रहे हैं अतः उन पर दर्शन का प्रभाव होना स्वाभाविक है।

श्री वेद व्यास कुचरू 'व्यास' आयु की दृष्टि से सब कवियों से छोटे हैं और इस छोटी आयु में ही वे अच्छी कविता करते हैं।

उपर्युक्त सभी कवि हिन्दी में ही काव्य रचना करते हैं। कुमारी उषा व्यास 'छवि' कुछ समय से डोगरी में भी लिखने लगी हैं।

मुझे आशा है कि जम्मू के हिन्दी साहित्यकारों की इन रचनाओं के संग्रह को देश के गणमान्य साहित्यकार मान्यता देंगे और इन्हें प्रोत्साहित भी करेंगे।

हिन्दी दिवस, 1974 जवाहर रैणा

सुभाष भारद्वाज

झूठा सूरज सच्चा सूरज

झूठा है
सुबह का यह सूरज
क्यों कि
मुझे इसने आज तक
कभी रौशनी नहीं दी ।
रौशनी !
जिसकी मुझे,
जन्म जन्म से तलाश है ।

× ×

और सच्चा है
सांझ का यह सच्चा सूरज
क्योंकि यह
सदा मुझे
अंधेरा देता है;
अंधेरा
जो मेरे लिए

चिर सत्य है
शाश्वत है
सनातन है ।

मैं जरूर पूजता हूं
रोज़
सुबह के इस सूरज को
एक पाखण्डी पुजारी की तरह
जैसे मैं
अपने घर आए
किसी समृद्ध अतिथि का
स्वागत करता हूं
(भले ही मैं
जिसके वैभव पर
भीतर ही भीतर जलता हूं)



गीत



एक घूंट जीवन का पीने की आस में
बैठा हूं मैं जिन्दगी के किनारे ।

झूठे उजालों ने आज मुझे घेरा है,
सूरज की रौशनी में लगता अंधेरा है;
मांझी को बीच भंवर
नैया पुकारे
बैठा हूं मैं ज़िन्दगी के किनारे ।

काग़ज़ के फूलों की बगिया सजा कर
दुनियां को ठगा मैंने सदा मुस्कुरा कर
चंदा के दाग़ पर

हसते हैं तारे,
बैठा हूं मैं ज़िन्दगी के किनारे।

प्यासी हैं खिड़कियां, भूखे दरवाज़े
कमरों के बीच कैद हुए हैं जनाज़े
बुझी राख में
सुलग रहे अंगारे
बैठा हूं मैं ज़िन्दगी के किनारे।

भीगे भीगे नयन, सहमे सहमे चेहरे,
चीखें न सुने कोई, सभी कान बहरे,
फटे इश्तहारों पर
लिखे हुए नारे
बैठा हूं मैं जिन्दगी के किनारे।



विरहिणी चन्दा की



मेरी जीर्ण कोठरी की
काली,
चरमराती छत
अमावस की
घनी काली रात की तरह
चन्द्रिका की एक किरण
पाने की आस में
रौशनी की प्यास में
बूढ़ी हो गयी है।

इसे मैं
यथाशक्ति

सजाता हूं, संवारता हूँ
सुबह शाम
बड़ी लगन से बुहारता हूं
चूने की घनी परत पर परत
इस पर पोतता हूं
ताकि यह
चांदनी के
सपने लेना छोड़ दे !

दरिद्र शरण
रौशनी की भूखी
चन्दा की इस चिर-विरहिणी का
धन्यवाद,
जो मुझे निर्बाध
अपनी इस जीर्ण छाया में
जीने दिए जा रही है।

नहीं अभी नहीं

तेरे गाए गीत
जब आएंगे बुलाने मुझे
और मेरा हठ देख
जब
टकरा कर मेरे कानों से
अपना सिर फोड़ेंगे

और फूल तेरी बगिया के
आकर मेरे द्वार
जब गंध मेरी सूंघेंगे

और तेरी नदिया का नीर
जब मेरे तट आकर
मुझे घूंट घूंट पिएगा,
तब मैं जानूंगा
मैं तो तब मानूंगा
आता है तुझे भी गाना।

है तो फूलों में भी गंध
और तेरी नदी में भी
शीतल, मधुर जलधार है
तब मैं जानूंगा
मैं तो तब मानूंगा
तुझे मुझ से प्यार है।



विनय



भाषा
जो हम बोलते हैं
सुनते हैं
लिखते हैं
पढ़ते हैं
उसमें अब सिर्फ
थोड़ी सी संज्ञाएं
और कुछ विशेषण
या
थोड़े सर्वनाम बचे हैं
लेकिन क्रिया
इसमें एक भी नहीं है।

संज्ञाओं
विशेषणों
और सर्वनामोंभरी
भाषा यह
बिना किसी क्रिया के
केवल एक गूंगी सी
लिपि रह गई है।
जिसने
हम भाषा भाषियों को
मूक और पंगु कर दिया है।

इस लिए
ओ, वैयाकरण महान् !
तू फिर एक बार आ !
लेकर नया ज्ञान
तू फिर एक बार आ
और हमें
थोड़ी सी क्रियाएं दे जा !
ताकि
विशेषणों से सजी
सर्वनामों से पुष्ट
हमारी इस भाषा की
ये मूक और पंगु संज्ञाएं
चल फिर सकें,
गा सकें,
हंस सकें,
रो सकें !
और इसके साथ साथ
हमारा भी
हम भाषा भाषियों का—
टूटे मौन

टूटे पंगुत्व
टूटे गतिरोध—
ताकि हम
अपनी इस यात्रा की
अगली चढ़ाई
सहज ही में चढ़ सकें
और आगे बढ़ सकें
और आगे बढ़ सकें।



डॉ० ओम प्रकाश गुप्त

दलदली घेरे



अजीब किनारे पर आ पहुंचा हूं।
इस पार दलदल है,
उस पार दलदल है;
कुछ और आगे—
मौत की गहरी खाई है।

ऊपर कुहासे से भरा आसमान,
पीछे मुड़ना मेरी हार है;
घुटनों तक दलदल में फंसा
सोचता हूँ—

जोर लगाकर सारा ही धंस जाऊं—
कितना अच्छा होगा—
इस जड़ता से ऊब गया हूँ!

× × ×

मेरे साथ
एक लंबा काफ़िला है।
चांद-सूरज जैसी
बड़ी बड़ी आंखों से
ये लोग शून्य को घूर रहे हैं;
चिल्लाहट इतनी—
कि शोर सुनाई नहीं देता;
छत फट चुके हैं,
प्रलय नहीं होती।

× × ×

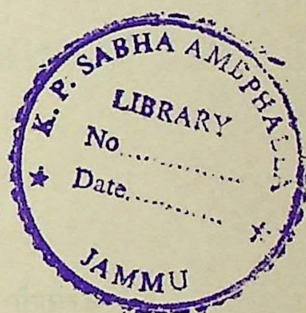
अपने लंबे नाखुनों से
नोच लिए हैं
हमने
अपने ही चेहरे,
फूट रही आंखें,
बढ़ते ही जाते—
गोल, काले दलदली घेरे;
मंज़िल पर पहुंच कर
अनायास
हर बार
पिट जाते हैं—
जीते हुए मुहरे!

रौशनी इतनी
कि बस दीख रही—
मौत की घाटी;
जीवन के सभी आयाम—
खो गए हैं,
ऐसा लगता है—
हम सभी
ताबूतों में सो गए हैं।

●

एक नयी कविता का जन्म

चढ़ती-उतरती सीढ़ियां
एक फैला हुआ मकान
एक सिकुड़ा हुआ घर
एक ज़िन्दा कैनवस
एक मरा हुआ शहर !
छोटे लंबे बहुत से ब्रश,
आड़ी टेढ़ी रेखाओं का रश
ऊबड़ - खाबड़—
प्रयोगों की कतार
धरती में गहरे
धंसे हुए संस्कार !



टूटे पंखों को—
आज़ाद हवाओं से प्यार
हर पहली तारीख से पहुत पहले
नोटों की गठ्ठी का इंतज़ार !

ज़िन्दगी बस इसी
चौखटे में कैद हो गयी ,
चाहत के हर—
ईमानदार संस्पर्श के पास आने पर
यूं लगा—
कि भोगने की ताकत
वेश्याओं के बाज़ार में खो गयी है।

कमरे की हर दीवार
मोम की तरह—
पिघल जाती है,

वक्त की लंबी तान को
छिपकली की कुदान
निगल जाती है ।

शोर
मुझे पाकर
गालियां थूक देता है,
रंग बिखेर देता है,
कूचियां तोड़ देता है
और कैनवस की बिंदियां
उड़कर खामोश हो जाती हैं;
मेरी पलकें उठी रहती हैं
आंखें सो जाती हैं ।

बरसाती नदी की बाढ़ में
बेकार
कचरा तैरता रहता है;
कुछ बह जाता है
कुछ किनारों पर ठहर जाता है ।

उधर फटे कैनवस पर
एक नयी तस्वीर
खुदबखुद उभरती है,
कूचियों, रंगों की कराहट
आकार ग्रहण करती है ।

आकाश जैसा भी है
मेरे लिए
मनोरम है
इन ढहते घरों के ग़म में
मेरा ग़म भी क्या ग़म है ?

छत के बरकरार रहते
नशीली ओस

मेरी हर चीज़ भिगो गयी है;
एक नयी कविता जाग रही है,
पुरानी—
चैन से सो गयी है।



एक नये सूरज का उदय

इन्सान के मन में
जब कभी एक नया सूरज उगा करता हैं
पल भर के लिए
अंधेरा झपट कर उसे दबोच लेता है।

किरणों को निगल जाती है
कांटेदार ज़हरीली जीभ
लोहे के नथने उगला करते हैं—
ज़हरीली आग;
फूल की हर पांखुरी झुलस जाती है,
धूल में बिखर जाती है—
तितली के पंखों की राख,
ज़ालिम का नशा
रह रह कर
चिंघाड़ उठता है
इन्सान के मन में
जब कभी एक नया सूरज उगा करता है।

वोल्गा, गंगा, सिंधु की
हर लहर
सूरज को छूने उछल पड़ती है,
नील की वादियां—

एक नयी सहर के लिए
हो जाती हैं बेचैन;
अन्धेरे का देवता
उनकी अल्हड़ता पे
कितना हैरान;
काले दांतों से कोलतार जैसी
हंसी बहा देता है,
जहां खड़ा होता है
मां को मासूम बच्चे के ख़ूं से
नहला देता है।

एक ओर शैतान की तलवार
दूसरी ओर—
आंसुओं की धार होती है,
इन्सान का भाग्य यह है
कि इतिहास में
यह घटना
एक बार नहीं
बार बार होती है।

रवीन्द्र रोकर हो जाता है खामोश
नज़रुल-इस्लाम काफ़िर का नाम पाता है
इन्सान के मन में
जब कभी एक नया सूरज उगा करता है,
अन्धेरा झपट कर उसे दबोच लेता है।

जब कभी मज़हब
इन्सानों के बीच
खड़ी करता है दीवार,
पद्मा की लहरों में
उमड़ा करता है ज्वार;
हर लहर किरण को फ़ौलाद

बना देती है,
हर मजबूर आंख
अन्धेरे पे लाल गोले बरसा देती है।

लहरों में खेलती हर मछली
तड़प तड़प जाती है
पानी को ज़हर करने वाली
हर नाव का रास्ता रोक लेती है।

इंसान के इतिहास का
यह रिवाज अजीब;
पैगंबर बनने से पहले
जेलों में सड़ा करते—
कितने मुजीब!
कोई ईसा उठाए चलता है—
अपना ही क्रास;
कोई लिंकन,
कोई लेनिन,
कोई गांधी
अन्धेरे को रौशनी दिखाता है,
इन्सान के मन में—
जब कभी एक नया सूरज उगा करता है।

●

प्रश्न संदर्भों का

●

संदर्भों से कटा
स्वयं में
मैं एक संदर्भ हूँ,

कोशिश के बावजूद—
इसे नकार न सका।

ग्रहों के काफ़िले
घूमते रहे मेरे गिर्द
हर एक मुझे
दीखा था—बेगुनाह।
और मुझ में
जीवंत—
कितनी उलझनों का जमाव,
बिखरी आकाश - गंगाएं
थीं—बेपनाह !

थे अर्थवान सभी संकेत
मगर
किसी सार को सायास
ओढ़ न सका,
किसी उघड़ते सत्य को
सहार न सका

धरती पे मुझे दीखा
हर कोई—अजनबी,
हर राह
पैरों को अन्जान लगी।
टूटकर हर पगडंडी
सड़क बन गयी,
कहां वह सरलता रही ?
कहां वह फबन लुट गयी ?

नग्नता नाच उठी,
क्यों नज़रों में,
चांदनी मोल बिक गयी
मुजरों में;

आंखों में घिरे
कितनी बार -
सांवले कुंतल,
कांपती उंगलियों से -
लेकिन—
उन्हें छू न सका,
संवार न सका।



सड़क पे खड़ा—
एक बेजान कन्धा



ओ मेरे देश के कर्णधारो !
अपनी सभी कमज़ोरियां
मेरे कन्धों पर लाद दो।

मेरे मुंह पे जड़ दो ताले
मेरी पीठ पर दाग़ दो—
अपने भारी जूतों के निशान,
मेरे पेट से छीन लो—
भूख की आदत,
आंखों से छीन लो—
शीशों के अन्दर झांकने की लत;

मैं तुम्हारे नारों का
अंबार - लदा बोझा ठेलता रहूँगा।

कांख में दबाकर
डिग्रियों का पुलंदा,

नहीं खोजूंगा   नहीं खोजूंगा
कोई छोटा या बड़ा धंधा।

ग्रौर हां !
मैं भी हूँ कैसा ग्रन्धा !
कि नहीं देखता—
तुम्हारी पालकी उठाने के लिए ही
बना है—
यह बेजान कन्धा;

ग्रांखों में उबलता कोलतार,
कानों में सीसा भर लूंगा;
ग्रो मेरे देश के कर्णधारो !



ज्योतीश्वर 'पथिक'

ग्रपने कमरे के शून्य...



मैं
ग्रपने कमरे के शून्य से बहुत डरता हूँ।
मानो यह जलती रौशनी
किसी जादुई चिराग से ग्राती है
ग्रौर ये दीवारें
मुझे खाने को दौड़ती हैं।
सिग्रेट का एक कश
दिमाग़ के रेगिस्तान में
ग्रांधियां उभार देता है,
लेकिन दूसरे ही क्षण

सभी कुछ ठोस चट्टान में बदल जाता है।
मेरे हाथों का शिल्पकार
गढ़ा करता है
वीनस और एटलांटा की मूर्त्तियां,
अजंता और एलोरा की गुफाओं में
पत्थरों को जीवन देकर
अपने 'स्व' को
आंधियों में बहता
एक तिनका बना देता हूँ;
इस कायाकल्प से हैरान
कुछ समझ नहीं पाता
मैं अपने कमरे के शून्य से
बहुत डरता हूं।

एक भिखारी मैं ऐसा हूं

एक भिखारी मैं ऐसा हूं
जिसने कई द्वार देखे हैं।
दुनिया भर के तीखे कांटे
दुनिया भर की कड़वी बातें
अपने दिल के दर्द समेटे
यह मेरा हिय-कोष भरा है।
दुख की बातें
सुख की बातें
अन्दर औ' बाहर की बातें
सभी समेटे चलता जाता;
मैं शंकर हूँ
नीलकंठ हूँ

भोला भी, प्रलयंकर भी
इतना कड़वा विष पीकर भी
मीठे तीखे गान सुनाता
अपनी धुन में चलता जाता
एक भिखारी मैं ऐसा हूं।



खंडहर



कांच के टुकड़े
फटे काग़ज़ के पुर्ज़े
और टूटी लेखनी...
पूंजी यही है आज मेरी।
कभी वे पल थे मेरे
जब तुम्हारे बन्धनों में
विश्व का समृद्धतम
पुरुष मैं था।
फिर समय बदला
झंझावात जागे
रह गया फिर सिर्फ जिम्मेदारियों का बोझ;
सोचता हूं—
कांच के टुकड़े
फटे काग़ज़ के पुर्ज़े
और टूटी लेखनी
पूंजी यही है आज मेरी...



रबड़ की गुड़िया

तन वही है
मन वही है
देह भी कोमल वही है
रात-दिन संसार भी सच्चा तुम्हारा।
पर कहां मंज़िल तुम्हारी ?
किस जगह से तू चली थी ?
किस जगह पर साँस लेकर
ज़िन्दगी के इन कंटीले
रास्तों पर तू बढ़ी थी ?
झिलमिलाती बत्तियां,
सरसराते स्वर
थिरकते ये पांव
कांपते सब साज—
तेरी ख़ातिर क्या नया है,
क्या पुराना ?
कुछ नहीं—कुछ भी नहीं !
मधुर नर्तन,
मदिर चुंबन
तेरे लिये कुछ भी नहीं ?
तो बोल तेरी ज़िन्दगी का सत्य क्या है ?
एक उत्तर—रबड़ की गुड़िया।

अल्बम के चार पृष्ठ—

१—वितस्ता की सुबह

पर्वतों की ओट से
झांकते सूर्य की छवि
मचलती उर्मियां
रींगती नाव का गीत—
हे मेरे मनमीत
आए नहीं तुम
रात गई बीत—
हो गयी है भोर
चारों ओर—
पक्षियों का शोर;
बह रही—
मौन—
वितस्ता गभीर;
जान सका कौन, मगर,
विरहिणी की पीर !

२—गुलमर्ग की दोपहर

महक रहे फूल,
झूम रहे पेड़
खुली खुली धूप
मस्त मस्त रूप !

जहां कभी गूंजी थी—
"जूनी"[1] की आवाज़—

---

1. कश्मीर की प्रसिद्ध कवयित्री हब्बा खातून का एक नाम।

बार बार—
आजा मेरे
फूलों के बांके राजकुमार !

फ़िज़ाओं में खोए खोए
आज भी वे गीत—
हे मेरे मन मीत...।



३--झील डल की शाम

दूर तक फैली हुई—
झील...............

थके हुए सूर्य की
धीमी धीमी चाल
पर्वतों के पानी में
झुके झुके भाल !

लहरों से लहरें
हैं जूझती—अनंत;
एक लम्बे सफर का—
थका हुआ अंत !

और
तुम . ...!
चारचिनारी पर
वादा करके नहीं आए
किरणों के साथ साथ
डूब गये गीत
*बाग़-निशात के
फूलों जैसे मीत !

*कश्मीरी कवि महजूर के गीत—बाग़े निशात के गुलो...का मुखड़ा।

४—हाऊस बोट की रात

पानी में तैरती है नाव
और
इसकी छत पर बैठा हुआ मैं
सोच रहा हूँ—
(सिग्रेट के छल्लों के जाल पर)
कि तुम
एक स्वप्न तो नहीं
जिसकी टिमटिमाती छवि
सुबह के जन्म पर
दम तोड़ देती है !

नहीं - नहीं
फिर ख़्याल आता है—
तुम मेरे पास बैठी हो—
पूरे चांद की तरह—
तुम्हारा गोल गोल चेहरा
मेरी आंखों में घूम जाता है
और मैं
तारों की बारात सरीखी
तैरती नौकाओं में खोजता हूँ
क्योंकि
आसमान का चांद
मुझे
मद्धम और मरियल
महसूस होता है ।

सिग्रट का एक और कश,
एक नया ख़्वाब—
सुबह के तारे की
पहली किरण !

क्या नाम है तुम्हारा ?
ज़रा सुनूं तो ।



सुतीक्षण कुमार आनन्दम्

समताएँ, नियति तथा सिद्धांत



आंखों से आंखें मिलीं
मन से मन छू गया
धड़कनों की बातें
धड़कनों ने सुनीं—
तो दूरियां सारी—
सिमट गयीं
सिकुड़ गयीं;
सन्देह पर विश्वास की परतों का
इस्पात जम गया ।
सहसा ही यह सब—
क्या हो गया ?
क्या हो गया ?
क्या हो गया ?

नीड़ में बैठी हुई
सारिका बोली;
घनी हुई समताएं !
घनी हुई समताएं !
घनी हुई समताएं !

× × ×

छिन्न-भिन्न हुआ
दुनिया का शोर
नष्ट हो गयीं
सारी व्यग्रताएं,
काल रुक गया—
मेरे लिए और
तुम्हारे लिए भी
दोनों पास - पास
आ चुके थे ।

यह बंधन कैसा—
तुम्हारी गति रुकी रुकी सी
मैं भी रुका रुका सा
सहसा ही यह सब—
क्यों हो गया ?
क्यों हो गया ?
क्यों हो गया ?

तुम्हारे जी का प्रश्न
मेरी धड़कन ने सुना,
पिंजरे में बैठा एक
तोता बोला :
यही नियति है !
यही नियति है !
यही नियति है !

× × ×

प्रश्न के उत्तर हुए
उत्तर के प्रश्न हुए
तर्क-वितर्क होने लगा
निकटताएं दूर होने लगीं,

दूरियां पास आने लगीं,
आयाम पंख पसारने लगा
घुटन बढ़ने लगी
आखिर यह सब

किस लिए ?
किस लिए ?
किस लिए ?

सांसों की तपन में
बैठी शीतलता थी
बोल पड़ी जो :

सिद्धांत यही है !
सिद्धांत यही है !
सिद्धांत यही है !

●

हाँ यह सीमा

●

यह सीमा
हाँ यह सीमा
जो कभी किसी को
एक इकाई नहीं रहने देती,
बांटती है—
आधे - आधों में
इस ओर भी
उस ओर भी;
प्राणों से प्राण
भिन्न करती है,

दानवता का अंक भरती है,
उकसाती है
इसको - उसको
आपस में भिड़ाती है;
रक्तपात होता है,
स्तनपायी शिशु
लटकने लगते हैं
मौत के क्रूर पलने में !

× × ×

यह सीमा
हाँ यह सीमा;
उकसाती जो कवियों को
गाने के लिए
राग चण्डी के गीत
ताण्डव - भीत
प्रलय लाने के लिए !
सेनानी को सेनानी से
भिड़ने के लिए
विवश करती है;
उथल पुथल मचा देती है,
त्राहि त्राहि कर उठते हैं—
दोनों छोर—
इस पार भी
उस पार भी !

× × ×

यह सीमा
हाँ, यह सीमा,
जो कभी किसी का
त्राण नहीं बन पायी,

जब भी बनी
हृदयहीन का अट्टहास
ख़ून का दरया
चीत्कार का तूफ़ान बनी है;

× × ×

काश—!
कभी हो ऐसा—
लुप्त हो जाए यह सीमा
धंस जाए किसी अज्ञात लोक में
जैसे कोई पाषाण
जल राशि में गिर कर
तल में खो जाता है
और ऊपर की
सभी सतहें
एक हो जाती हैं;

'सभ्यता' के वनैले प्रहार,
सब
चुक जाएं,
सभी सीमाएं खो जाएं;
और आने वाली पीढ़ियां
इतिहास की पुस्तकों में छपे
पुराने मानचित्रों में देखें—
थी—
यह सीमा—!
हां यह सीमा
जो कभी किसी को इकाई नहीं रहने देती
थी—!

●

बहार आएगी

बेंत की झुकी झुकी डालियां
पल्लवहीन
उदास - उदास
चिनार के तने से
लिपटने के लिए उत्सुक हैं—
सफेदे के वृक्ष
पहरा दे रहे हैं—
हिम - पुष्प बरस रहे हैं।

मौन छाया है चारों ओर—
बीच बीच में
झकझोरती हवा
गीत गाती है
हल्का हल्का—
डालियां सांस लेती हैं।

रास्ते अवाक् हैं :
कोई तो आए !
हमारी पहचान कराए
और तभी—
सूर्य आ जाता है,
मज़दूर कुदाल चलाते हैं;
भीने - भीने,
मैले - मैले
रास्ते मुस्कराते हैं
(कि)
हमारा अस्तित्व स्थिर है।

खिड़कियां

दरवाज़े
रौशनदान
हल्की से हल्की दरारें
बन्द हैं –
केवल चिमनियों से धुआं उठ रहा है;
गर्माए शयनों में खोए जिस्मों के
श्वासों की गरिमा ले कर
(कि)
मैं समस्त आकाश को
गर्मा दूंगा ।

शिकारे और हाऊसबोट
ठहर गये हैं,
जमी हुई नदी के
आलिंगन में बन्ध कर
शरद की जलन से
होड़ ले रहे हैं,
जी रहे हैं ।

ऊपरी श्वेत हिमशिला के नीचे
गहरे में
सुनाई दे रहा है
कल - कल शांत स्वर
कभी जो गर्मेगा,
बहार आएगी
ऊपर की सतह पिघलेगी,
स्फूर्ति जागेगी ।

●

आत्मालोचन

चौदह दिन
गला फाड़ चिल्लाता रहा आकाश,
दनदनाता धड़कता रहा—
धरती का कलेजा;
कितने ही तोते
फड़फड़ा कर
दे गये प्राण,
कितनी ही सारिकाएं
विह्वल हो—
ढूंढती रहीं त्राण;
चिड़ियों - चिड़ौलों का
रहा नहीं हिसाब,
व्याध के तर्कश
लगातार—
भरते और ख़ाली होते रहे,
बाज़—
जी भर बाज़ियां लगाते रहे
कल कल करते निर्झर,
छलछलाती नदियां
बनती रहीं कफ़न,
जंगल और बस्तियों का
अन्तर मिटता रहा
और—
तुम !
तुम सोए रहे मेरे कवि !
अब—
किस काम के ये गान ?



री किरण !

री किरण !
तनिक आ
मेरे कमरे में भी,
देख—
दीवार पर टंगे
फ्रेम के पीछे
बहुत पुराना
एक घोंसला है,
जिसमें रहती
सोन चिड़िया
और
चिड़ौले उसके !

री किरण
क्षण भर ठहर जा
और जगा दे उनको !
वे गाएंगे—
चीं चीं
चूं चूं,
फुदकेंगे
मेरे दाएं - बाएं
आगे - पीछे !
और तब
मैं दूंगा उनको—
चुगने को दाने,
वे तुझे
दुआएं देंगे !

हे किरण !
मेरे भी कमरे में आ ! !

रमेश मेहता

खुले कमरे बन्द द्वार

अपने हाथों से
सजाकर अपनी चिताएं
बेच दी थीं
राख के व्यापारियों के हाथ
बुझे हुए अंगारों के साथ ।
हम भी खुश हो लिये थे,
इसी मौज में पूरा जी लिए थे—
कि मरना हमारा भी
काम आ गया है ।

× × ×

दूर दूर तक बिखेर दिए जाते हैं—
हमारी राख के कण,
कि किया जा सके हम को रुसवा,
लिखा जा सके हमारे कलंकों का हिसाब;
फिर ज़िन्दा किया जा सके
हमारा मरा हुआ इतिहास ।

× × ×

दोस्त जता रहे हैं कितने एहसान !
मरने के बाद ही

जीवन से होने लगी है—
पहचान;
धूल की आंखों से देखा किए हैं
उलझा हुआ समाज,
अचीन्ही आवाज़ें सुनने लगे हैं,
मरे हुए कान—आज।

× × ×

राख के कण से
टूटने लगे हैं—
मकड़ी के जाले के तार
और
अर्थ ग्रहण करने लगे हैं—
खुले खुले कमरों के—
बन्द - बन्द द्वार !

प्रतिकार दो !

कल शाम
किसी ने रवि की हत्या करके
उसे कालिमा के आंचल में
बांध डुबो दिया है—
अथाह सागर में।

किन्तु
उसका रक्त
घंटों . ...
पानी की सतह पर

तैरता रहा,
पुकारता रहा—

मुझे नयी प्रात दो !
मुझे नव प्रभात दो ! !

मुझे—
मेरे वध का
प्रतिकार दो !

●

एक आद्योपांत परिवर्तन

●

पुरानी कलम की सभी तस्वीरें
दीमकों ने खा डाली हैं
बेकार की सभी पोथियाँ
वक्त की आंच ने जला डाली हैं ।

इन रास्तों से
कितना पानी बह गया है
बीती सदियों को
वर्तमान से जोड़ने वाले सेतुओं के
टूट जाने पर
मेरे - तुम्हारे सम्बन्धों में
अब कोई सार नहीं रह गया है ।

यदि जीना ही चाहो—
बार बार दुहराया जा कर भी
नया कहा जाने वाला जीवन
तो बदलो मन
और निकल आओ
इन काली गुहाओं से बाहिर ।

नये डिजायन के
नये चित्रों में
नये रंग भरने होंगे,
नये सेतुओं के निर्माण के लिए
बदले हुए उजाले में
नये इकरार करने होंगे
और
नये औज़ारों से
भट्ठियों में फ़ौलाद पिघलाना होगा
क्योंकि
पुरानी कलम की सभी तस्वीरें
दीमकों ने खा डाली हैं।
नयी तस्वीर के लिए
कलम,
रंग,
कैनवस
सभी कुछ बदलना होगा—
एक आद्योपांत परिवर्तन !

बोझ का बोध

आज
मैं एक युवक नागरिक हूँ
स्वतंत्र भारत का।
बटवारे के दंगों में—
जन्म लिया मैंने
और
बिताया बचपन—

अभाव के पाले में,
अब
जी रहा है—
मेरा
यौवन
भ्रष्टाचार के गंदे नाले में।

अपने
कंधों पर
लादे हूं—पुरखों की
झूठी शान;
रूढ़ियों का बोझ;
टूटा हुआ धर्म,
बोसीदा ईमान !

और—
पाप - पुण्य - मीमांसा के
सभी आख्यानों को
देख कर फेंक दिया मैंने
कि आख्यान गढ़ने वाले
छद्मवेशी हैं—
अच्छी तरह
पहचान लिया मैंने......!

●

घेरे—
विद्रोही उच्छ्वासों के

●

लाद दिया जाता है
अनचाहे—
हर बार—

हमारे कन्धों पर
एक नया फ़र्ज़,
लिख दिया जाता है—
हमारे नाम
किसी न किसी तरह
एक नया कर्ज़;

कि
निर्णय का क्षण
हम से
हर बार छीन लिया जाता है,
हिंस्र पशुओं के अखाड़े में
(सम्राटों के मनोरंजनार्थ)
फिंकवाने को
हमें ही हर बार बीन लिया जाता है।

× × ×

रह रह कर
नाबदान में
सड़ने का दर्द टीसता है
मगर हर बार
वही पुराना—
दब्बू बने रहने का रोग
हमें गूंगा कर देता है।
सूरज को
हथेलियों से उलीचने की बात
हमें बोदी लगती है;
हर उचित - अनुचित शर्त्त
माननी ही पड़ती है—
कि
यह अधरंग से पीड़ित जीवन

एक क्षण ग्रौर चल जाए,
शायद किसी ईश्वर के दिल में
रहम उभर ग्राए,
किसी इन्सान के
भाग्य का सितारा पलट जाए।

× × ×

मगर ग्रब
गूंगी ग्रभिलाषा को
कसमसा कर, उफ़न कर
छिटकना ही है—
कांटेदार तारों के
बंद घेरे के उस पार—
बूढ़ी व्यवस्था के मांसाहारी
जबड़ों पर
लगाना ही है थप्पड़
कि
कन्धे—
हवा में फैल सकें;
कि
बहियों से हमारे नाम मुक्ति पाएं;
कि हमारी भवों को देख
सम्राट—
सिंहासनों से उतर ग्राएं;
कि पुरानी सड़ाँध,
ग्रधरंग का रोग
जल जाएं चिताग्रों में—

ग्रौर हम
ग्रग्निपूत
सूरज को हथेलियों से उलीच लें।

●

कुमारी उषा व्यास 'छवि'

रंगों का मेल

●

मन होता है
थोप लूं जी भर
पैरों में महावर
और फिर
टांक दूं उसके साथ
बसंत में उगे कांटों की कत्थेई चुभन
लाल - लाल
लहू बहेगा,
पीर—
चाहे मन नहीं सहेगा
किन्तु
कम से कम
रंगों का मेल तो रहेगा।

●

नया वर्ष

●

बुढ़ा गये बासी हो गये कैलेण्डर
नीले - पीले - लाल
अंकों से लिपटे पुराने दिन
उधड़ - उधड़ गये
पिछली रात बन्द हुई कांच की खिड़की के
ओस धुले पल्ले

सरसायी भोर की पहली हवा के झोंके से
उघड़ - उघड़ गये
छपरे में बंधे मेमने की
मिमियाहट सा
अनछुए फूलों की मोहिनी
खिलखिलाहट सा
अंखुआए शहतूत की डाली - डाली पर
'चुक - चुक - टिट -'टिट - चुक' गाती
गौरैया की टिटियाहट सा
उल्लास की सिन्दूरी लौ बिंधा
भोला सा स्लेटी उजास
अम्बर से उतरा
धरती पर छा गया
नया नया चलना सीखे शिशु सा
टुप - टुप - टुप
करता नया वर्ष आ गया।

●

माँ

●

दिवस काला हो गया है
शहर का कोलाहल
कच्ची नींद जागे शिशु की तरह
रात के कन्धे लगा
कुनमुना कर सो गया है
बेरौनक बाज़ार की बन्द पड़ी हाट पर
मैले चीकट पैबन्द लगे दुर्गन्धित
चीथड़ों में आवेष्ठित
बैठा है एक रूप

पर अनूप
ज्यों ठिठुरे मेघों से छन कर आयी
शरद की एक किरण भर धूप
सिकुड़ा कलूटा आधा उघड़ा वक्ष
देख
शिशु की आंखों में जगती लय
ढरकती एक बूंद अमृत पाने को आतुर मुरझाता
अधर किसलय

वन्दे ! अहो; मातृत्व दुर्जेय
कचीले पानी से भरी नाली पर
लेटा है झड़ते नखों से खुजलाता
खसखसाता लारें टपकाता एक कुत्ता
उसे हेरता है
वह रूप बोलता है—
कुत्ते ! जानते हो मैं कौन हूं ?
मैं भीतर से एक 'मां' हूँ
और बाहर से
तुम्हारे समाज में
तुम्हारी तरह
भूखी, त्रस्त, बीमार
ज़िन्दगी के खोखले बूढ़े ठूंठ की
निरर्थक मिटती हुई
छांह हूँ ।

●

धरती का घाव

●

दूर नील नभ का
भुजपाश फैला

अधूरा ही रहता सिमटने का चाव
फफोले सी उठती है
धरती की छाती
काश !
अपनी हो जाए ठंडी तारों की छांव
युग - युग का बंधन
है कच्ची कहानी
इन्होंने तो भोगा सदा का दुराव
नभ के नयनों से झरता
स्लेटी सा दर्द
बूंद—बूंद—बूंद—
बदली बन रिसता है धरती का घाव
सोचा है—सोचा है अपने ही भीतर
छिपा लूं
पलकों के झूले पे
पावस बिठा लूं ।

एक अकेली कुर्सी

बन्द कमरा
बीमार बोतलों में ठुंसे बेतरतीब फूल
कोनों में मकड़ी के जाले
पलंग - मेज़ - रेडियो किताबों पर
धूल और धूल
लू फेंकता पंखा
सहम सहम कर हिलते कैलेण्डर
कैलेण्डरों के पीछे दरारें
और दरारों में आटा ले जाती चींटियां

किर्ड़ - किर्ड़ - किर्ड़
रैक में पीला पाउडर छिड़कते कीड़े
बंद खिड़की के कांच से
उतरता पिघले अलमोनियम सी
धूप का सैलाब
मुझे लील रहा है
और एक रिटायर आदमी के निपट खालीपन
का एहसास
कहीं भीतर ही भीतर छील रहा है।



निर्मल विनोदी

खिड़की के शीशे पर



खिड़की के शीशे पर
जलकणों ने
एक लंबी
अंतहीन रेखा का
आरंभ बो दिया है।

यह शीशे के बाहिर है,
अन्दर से छूने पर
तरलता का अनुभव ही किया जा सकता है।

—एक अहसास
जो क्षण भर के लिए
धुंधलके को पोंछ कर हार जाता है।

शीशा धुंधला है।

यह धुंधलका और बढ़ जाता है
जब मेरा उच्छ्वास
शीतलता से टकराकर
मजबूर थके पक्षी - सा
पंख समेट कर
बैठ जाता है ।

सारा अन्तर
अजीब, शांत स्निग्धता से
सुगबुगा उठता है
और बाहिर
जलकणों की वही लंबी रेखा—
असंख्य धाराओं में फूट रही है ।



प्रतीक्षा



मैंने आज तक
जितने सुखों को भोगा है,
उनसे कई गुणा अधिक
देखे हैं सपने ।
कल्पना के मखमली पंखों पर बैठ
गगन की नीलिमा के
प्रत्येक अंग के संसर्ग का आनन्द
मैंने लिया है ।
आवरण की हर एक रंगीन परत
उघाड़ कर
हर झीना आंचल
धरा पर फेंक दिया है
और

इस कच्ची उम्र में
मैंने कुछ ऐसे काम किए हैं
जिन्हें शब्द देते
मैं लजा जाता हूं।
और जब कभी
गगन की नीलिमा
को अपने वस्त्रहीना होने का बोध होगा,
धरा पर गिरे अपने आभरण
संजोने
जब वह नीचे झुकेगी,
उसी क्षण
उसके अधरों पर
गुलाबी रंग पोत दूंगा
और उसका कमसिन सौंदर्य
मेरा होगा
यथार्थ में
मेरा होगा।

खोखले हैं हम

भीतर से खाली
फूले—लिफ़ाफ़ों से
खोखले हैं हम।

अपना ही खालीपन
हम पर हंसता है
फिर भी हम देखते हैं—
हमारे छलावे में
कौन फंसता है।

हर पुराना साथी
जानता है कि हम हैं खाली
हमारी हर बात—
छलावा, फरेब और जाल्ली !
हम दाँत—डाक्टर के एजण्ट हैं
मगर अपने ही दाँत नहीं,
पोपले हैं हम,
खोखले हैं हम।

यद्यपि हमारे अन्दर
भरी हुई बस हवा है
तथापि हमारे धोके में हर आदम है
हर हव्वा है।
ढोल की तरह बज सकते हैं,
दुल्हिन की तरह सज सकते हैं
धरती और अंबर पर
गूंजते नारे हैं
समाजवाद के इस युग में
अपने तो वारे न्यारे हैं;
हम न संघी, न कांग्रेसी
न अकाली, न लीगी हैं;
भेद की बात है कि
दोगले हैं हम
खोखले हैं हम।

●

हृदय की बात

●

वासना से अछूता हूं मैं
गर्वोक्ति नहीं कर सकता

और—
प्यार किसे कहते हैं—
मैं नहीं जानता—ऐसी बात भी नहीं है।

एक तो—
आदम और हव्वा का वंशज
(या कह लो मनु की सन्तान)
प्रकृति की माया कह लो
या कह लो—
मुझे शान्ति से जीने नहीं देगा—
शैतान !

सोचता हूं—
मेरा तो भगवान् ही रक्षक है
(आज का युग और भगवान्?
चौंकिये नहीं
विश्वास मजबूरी का संबल है)

वासना से दूर भागता हूँ—
(बुद्ध की तरह महाप्रस्थान नहीं करता—)
उसी अन्धेरी कोठरी में—
बार-बार—
जहां एक तकिया
मेरे आंसू सोखने को
बेकरार रहता है—
उस प्रेमिका की भांति
जो मेरी मजबूरी और कायरता से
हमदर्दी करने लगी है।

लेकिन—
दिन का शीशा
सूरज को मेरी आंखों पर दे मारता है

श्रौर फिर
डग डग भाग खड़ा होता है
उस बालक की भान्ति
जिसकी एक मुट्ठी में
दुपहर की श्राग में दहकती रेत
श्रौर दूसरी में
किसी के कार्निश से चुराया
कागज़ी फूलों का गुलदस्ता हो।

सबून तो निर्दोष को भी
दोषी ठहरा देता है।
श्रौर फिर ऐसा दोषी
कि जिसकी मुट्ठियों में—
सबूत नाच रहा हो !

भागते भागते
धूल या दलदल में लिथड़ जाना
स्वाभाविक ही सही।
किन्तु मेरी श्रपनी भी तो—
कुछ मान्यताएं हैं—
(किसी साइकियाट्रिस्ट की नज़र में
ये गहरी कुंठाएं हैं—
सही है—)
मगर
हे संस्कारों के श्रादिम देवताश्रो !
किसी के निर्मल स्नेह का
शतांश ही सही
मेरे भीतर कायम रखो !

ईश्वर, तुम श्रौर प्यार
मिल कर
मुझे बचा लोगे—

हृदय कहता है—
और –
सुना है—
हृदय मेरी तरह झूठ नहीं कहता।

●

बूढ़ी ढोलक
चरमराता कंठ
और एक भूला हुआ गीत

●

पिछली रात—
एक बार फिर—
वही पुरानी ढोलक
जो अपने घर के कबाड़खाने की जान
और हमारे परदादा के युग की
पहचान भी है,
जिसकी लकड़ी के बाहिर और भीतर
दीमकों ने खूबसूरत कलाकारी की है
और जिसका एक पट्ट
किसी शैतान हाथ की मार से
कब्र में सोये बुड्ढे की तरह
मौन का अङ्ग बन चुका है;

बजाता रहा हूं
बजाता रहा हूं—तुम्हारा
मैं—निस्संग
पिछली अमावस की रात—
सारी रात—
और साथ ही—.

बैठे गले से
चीखता और गाता रहा हूं—
किसी चांदनी रात का—
भूला बिसरा वह गीत—
जिसे
हम दोनों—बाकायदा
गाते हुए
युक्लिप्टस के पेड़ों के बीच
भटकती पगडंडी पर
राह भूल गये थे
और उसी भूले रास्ते की
चाँदनी से प्यार बढ़ाते रहे थे
अगली सुबह उग आने की प्रतीक्षा में।

एक अदद बूढ़ी ढोलक को जगाए रखने
और चांदनी रात के
उस खोये रास्ते के गीत को
चरमराते कण्ठ से
स्वर देने का उद्योग
मैंने—
पिछली रात—
जिस ईमानदारी से किया,
तुम्हारे लिए वह कल्पनातीत है,
मेरे लिए—
पौ फटने के बाद—
वह एक बीती हुई बात है :
मगर उस बूढ़े ढोलक के लिए
उसकी कितनी कीमत है—
आंकने का साहस मुझ में नहीं है।

अशोक जेरथ

अट्टहास भरा भविष्य

●

मैं ग़रीब हूँ ।
ओ विश्वासों की संजीवनी पिलाने वालो !
क्यों मेरे साथ मज़ाक करते हो ?

मेरे ऊपर
सफ़ेद टुकड़ों से ढका आकाश
और पैरों के तले
सूखे से सड़ी
उपजाऊ ज़मीन—
जो पानी तो पानी (मेरे पास तो बस आंखों का है)
लहू पीकर भी
बीज को अंकुर नहीं बना पाती
और तुम्हारे विश्वासों की डगर
हवाई सर्वेक्षण की
मोटी मोटी ख़बरों के आस पास
गुज़रती है ।

कई पांच वर्षों से भूखे
मेहनतकश
ये नर कंकाल
तुम्हारे रेडियो के गीत सुन सुनकर
उस इमारत की राह ढूंढते हैं
जो कई देशों से इम्पोर्टेड
रंग बिरंगी
ईंटों से बनी है;
और इसके दरवाज़े पर

टेढ़ी भाषा में कुछ लिखा है,
काली छायाएं भोंक कर कहती हैं—
लिखा है—
समाजवाद;
और इस द्वार के अन्दर
घुसने का साहस
इस भीड़ में नहीं है।

लेकिन जिस दिन
यह भीड़ दिशा पाएगी
जिस दिन इन कंकालों की हड्डियाँ
चटख कर गति पाएंगी,
डरावने अट्टहास
आग निगलकर
आंकड़ों की होली जला देंगे
तब—
'वर्तमान' और 'भविष्य'
मेरे लिए असंदिग्ध
और तुम्हारे लिए—
संदिग्ध होंगे!

बेकार - बेचारा

ढली—
थकी सी शाम—
रात में खो गयी—
घड़ी की टिक - टिक - टिक
चुपचाप अंधेरे को खाती रही
और तब

घड़ी के हाथों ने घूम कर
सुबह के दरवाज़े पर दस्तक दी।

चेहरे पर हाथ घुमाकर
उसने बेंच की पट्टियों को—
प्यार से सहलाया
किसी उदास ग़ज़ल का टुकड़ा
धीमे - धीमे गुनगुनाया।

सुबह की हवा खाने आई
अनेक मोटी तोंदों ने
उस 'आवराग़र्द' को निहारा—
ढूंढ रहा था
काग़ज़ के टुकड़ों में
सांझ तक घूमने का—
सहारा !
'साहिब' के घर जाते
माली ने पुकारा—
ए बाबू यह पार्क है
न कि—
धर्मशाला या गुरुद्वारा !
दौने में फूल उठाए
एक भक्त बोले
हे राम !
कोई मुसीबत का मारा है
बेचारा।

बरसात के पहले

●

सजोया करता था---
कल तक
महापुरुषों के विचार
और उन्हें करीने से
एक नोटबुक में लिख लेता था
लेकिन आज —
मुझे लगता है—
वे सभी विचार बेकार हैं
क्योंकि चींटियों की यह लंबी कतार—
किधर जा रही है,
मैं नहीं जानता।
सरकारी दुकान के बाहिर
आठ घण्टे खड़ा रहने के बाद
खाली टीन बजाता
लौट आया हूं
तसवीर में लगे
गुलाब के फूल पर बहुत झल्लाया हूँ,
कि जेब में पड़े काग़ज़ी नोटों से
मैं अपने बच्चे के लिए
दो चमच घी नहीं खरीद सकता।
(बावजूद इसके कि लोग मुझे एक बड़ा
चमचा कहते हैं।)
आ जाए पानी का रेला
और
सारे डिब्बे
खनखनाते हुए बह जाएं
गट्टरों का अट्टहास

मेरी कमज़ोरी पर छींटे कसे
और
डूब जाएं
इन चींटियों के घर,
गोदाम और अण्डे—
कि इनके सामने
लोकतंत्र के दावेदार शहरी का
अस्तित्व
आज मुझे बहुत
बौना लगने लगा है।



श्याम नारायण राय

मैं



मैं—
हड्डियों के ढाँचे पर
एक मांसल आकार............?

ना...........!

शास्त्रकारों का कहना है—
यह तो सम्बन्धी है—
इसे 'मेरा' कहता हूं!

फिर...........?

आहार के नाम पर
किसी लघु पक्षी की उड़ान पर झपटता

चिल्लाते हुए सायों का साथी
एक गीध संज्ञक प्राणी हूँ ?

बस............?

भेद यह—
कि अन्य लालसाओं के साथ
इसे भी पाले हूँ—
कि कम से कम एक बार
कह दे कोई—
'तुम मेरे हो'
या
'मैं तेरा हूं'।

तब............?

तब मैं यह सोचना छोड़ दूंगा
कि मैं क्या हूं,
कह दूंगा—
जो भी हूँ—
उसका हूँ !

●

स्वप्न

●

सूर्यमण्डल के पार—
अगाध . ...
अंतरिक्ष के एक कोने में
बनाया था—
एक षट्कोण - प्रासाद !

उसके भीतर

स्थापित थीं—
युगों से संचित—
सुनहरी चित्रावलियां,
सामने की बगिया में
झूमते थे—
सतरंगी फूल !
लेकिन—
सभी—
गति के कारण
श्वेत दिखाई देते थे।
सभी प्रहरी,
नर्तकियों के थिरकते अंग,
गायिकाओं के स्वर
और वाद्यों में झंकार भरने वाली—
कमनीय उंगलियां—
सभी......
श्वेत......! श्वेत......!! श्वेत......!!!
दूर थे—
जगती के
सारे संसर्ग
बस गृह प्रवेश शेष था !

हां........?

अनायास—
पैरों के नीचे की धरती खिसकने लगी;
पुरानी लोक-कथा के पात्रों की तरह
सभी सो गये।

ओह.........!

और एक भारी आवाज़ गूंजी—
तुम्हें लोक-कथाओं पर आस्था नहीं है
शाप और वरदान पर विश्वास नहीं है,

इसीलिए—
तुम्हें मिले सारे वरदान—
अभिशाप बन जाएंगे ।

तुम्हारी कामनाओं के अश्व—
तुम्हारा भार नहीं ढो पाएंगे—
और तुम रह जाओगे—
अकेले.........!
और हर क्षण
मर कर
तुम्हारी मौत में
जीवन भरता चला जाएगा.....!



वेद व्यास कुचरू

अंतः अनल



हलाहल,
फंदा
या बन्दूक ।
कौन सी विधि अपनाऊं ?
अब तो
विष में भी मिश्रण ।
फंदे के लिये—
रस्सी तक महंगी,
या—अवसर नहीं ।
मच्छर मारने के लिये
...र में

'जाल-बैट' नहीं।
अतः बन्दूक—
स्वप्न—!
करूं क्या ?

घर में—
अशान्ति।
बाहिर—
अशान्ति।
घर में—
भोर से सांझ तक शोर।
बाहिर—
कपट का जोर।
गोदी में जल-तरंग की—
छलांग लगाई
पर, मछेरों ने—
फंसाया जाल में।
जाऊं किसी उच्चप्रासाद से—
कूदने !
पर, प्रवेश-द्वार पर—
मांगते प्रवेश-पत्र।
लौटा पुनः घर,
अशान्त,
निराश,
हताश,
विवश एवं
व्यथित।

घर—
जैसे होटल।
न कोई किसी का,
पर्यटकों का डेरा

आये, गये—बस।
स्नेह—शून्य,
कलह—घोर।
तीव्र—शोर।
समस्या—जटिल,
कैसे हो शांत—
—यह अंत: अनल !

●

पाषाण कला का नमूना

●

पिञ्जर अस्थियों का
कटी-फटी मोटी चमड़ी से लदा
पथराये नयनों में
अस्ताचल गामी लाली
पाषाणकला का नमूना—
एक इन्सान !
दूर—
सुनसान—
फैली हुई वीरान खेती में बैठा
धरती का मालिक !
उसका पेट भूखा
उसकी खेती प्यासी
भृकुटियों में छायी—
मौत की उदासी
फिर भी कितना नादान,
ताक रहा
(ऐसा ही जीवन

एक क्षण और जीने के लिए)
नीला आसमान !

●

नेता

●

मैं हूं,
क्या हूं ?
नेता ! !
किनका ?
भूखे - प्यासे - नंगों का
पीड़ित - विह्वल - भिखमंगों का—
चोर - लुटेरे संघों का ।
माला शान्ति की जप कर,
विपुलकोष धन का हड़प कर,
सत्ताधारी बनकर
मैं बनता हूं नेता ।
हां मैं हूँ नेता !
करता हूँ भाषण
रचता सम्मेलन ।
शब्दजाल में
उलझाता हूँ
सुलझे प्रश्नों को ।
फायिलों में बंद योजनाओं को
उलटाता - दहलाता हूं,
नये भारत का
मैं ही
नेता कहलाता हूं ।

●

यह जीवन किस का

दिन में,
सिर पे टोकरा,
कन्धों पे बोझ।
मटियाले पसीने से—
लथपथ
एक रक्तहीन लोथड़ा !

शाम को
बच्चों की किलकार में—
एक सूखी बासी सख्त
रोटी चबाता है।
सोया कहां ?
मकान में ?
झोंपड़ी में ?
गुफा में ?
फिर कहां ?
तारों को ताकते हुये—
'फुटपाथ' पर।

मरा कहां ?
घर—चारपाई पर,
हस्पताल के हाल में,
झोंपड़ी में घास की चटाई पर ?
नहीं - नहीं।
वहीं चांद की
पीली रात में—
'फुटपाथ' पर।
अरे !
इसका तो जन्म ही

'फुटपाथ' पर हुआ था।
क्या—इसके जीवन में—
बहार नहीं आ सकती ?
"हां" !
फिर आती क्यों नहीं ?



जवाहर रैणा

हर शाम
शहर से गांव की ओर



हर सीधी सड़क के बाद
एक मोड़—
अनचाहा;
अन्तर को और अकुला देता है—
कोई बेशर्म चौराहा;
कंकड़ीली, कंटीली पगडंडी पे
लौटने को पैर बेचैन,
पत्तों से झांकता—
भोला सवेरा,
मेंहदी - रची सांझ,
कजरारी रैन।

× × ×

आकाश के विस्तार को तोड़ देते हैं—
मिलों के भोंपू,
ऊंचे मीनार,

कंक्रीट के खंबे—
इस्पात के तार।

× × ×

झूठे मेकअप से परेशान
रंग भरे फूल,
हर कली के उरोजों पर
कितने घृणास्पद (!)
स्पर्शों की धूल।

× × ×

हर शाम—
जब मैं—
शहर से—
गाँव की ओर चलता हूं,
आखिरी बदबू को छोड़
पहली खुश्बू का—
हाथ पकड़ता हूँ,
पराग के हर कण से
लिपटता है—
कस्बाई शाम का—
काला साया,
हर सीधी सड़क के बाद
एक मोड़—
अनचाहा............।



कुछ राष्ट्रीय
कुछ अंतर्राष्ट्रीय

●

उड़ते हुए बी-बावन,
मरते हुए लोग—
दोनों—
लोकतंत्र ज़िन्दाबाद
का नारा लगाते हैं
और
सन्धियों की वार्ता करने वाले लोग
जाम पे जाम पिए जाते हैं।

चीन के आणविक विस्फोट के बाद
फ्राँस ने भी विस्फोट किया है?
न्यूज़ीलैंड, आस्ट्रेलिया, जापान—
विरोध में चीख पड़े हैं
(मगर इनकी कौन सुनता है,
बड़े आखिर बड़े हैं।)
इसीलिए—
मेरे देश का रेडियो
दूसरों के विरोध पत्रों की
भाषा सुनाता जा रहा है
या भूखे लोगों का मन
विविध भारती के
विज्ञापन - कार्यक्रम से बहला रहा है।

अमेरिका में—
प्रेजीडेंट और सीनेट की ठन गयी है
हम दिन की पिटाई—

भूल कर सो जाएं
एक अच्छी लोरी बन गयी है।

काश कि बनने लगें
टेस्ट - ट्यूब बेबीज़,
ज़रूरत के मुताबिक—
'इंपोर्ट' कर लेंगे;
"दो या तीन बच्चे—बस" में से
पहले तीन शब्द 'डिलीट' कर देंगे।

वीयतनाम, बंगाल, पख़्तूनिस्तान—
कुछ बड़े कम्प्यूटरों की
टेक्नीकल विशेषता से
जला करते हैं;
उड़ते हुए बी-बावन,
मरते हुए लोग—
दोनों—
लोकतंत्र ज़िन्दाबाद
का नारा लगाते हैं।

एक अनुभूति
बिजली की दो तारें—

(जब बिजली की प्रेस से पत्नी की
साड़ी जला बैठे)

इन दो तारों में
भागती शक्ति—
लोहे के भारी पहिए घुमा देती है,

दूर के दृष्य दिखा देती है,
मधुर संगीत सुना देती है।

जीवन की हर धड़कन का आधार
यही तारें हैं;
युद्धों की नफ़रत,
समझौतों का प्यार--
आज यही तारें हैं।
मगर
एक सीमा के बाद
ये तारें—
टूट जाती हैं—
होती है जब बेतार की बात,
ये कहीं—
बहुत पीछे छूट जाती हैं!
यहाँ की हर चीज़
सीमाओं में घुटती परेशान है;
तनावों से भरी दुनिया—
मानो एक निर्जन श्मशान है।
इन तारों के झूले पे
इठलाते पक्षी को
पछाड़ खाकर गिरते
मैंने कितनी बार देखा है;
विज्ञान के यान पे उड़ते
अभिमान को
धूसरित होते देख
संवेदना की पीड़ा को
मैंने कितनी बार भोगा है।
इन तारों में दौड़ती शक्ति
कभी ज़िन्दगी,
कभी मौत
के गीत

गुनगुना देती है;
दूर की बात क्या करूं,
गुस्सैल बीवी की
खूबसूरत साड़ी
क्षण में जला देती है।
नसों में बर्फ जम जाती है,
उस वक्त समझ आती है—
दुनिया में एक ऐसी ताकत है
जिसके सामने ऐटम की ताकत भी,
थम जाती है।
इन तारों में भागती बिजली
लोहे के पहिए घुमा देती है,
तो पत्नी की झिड़कियों की ताकत
कविराज को
गोष्ठी में पहुंचा देती है।

सड़क का उघड़ा हुआ रूप

दूर—
किसी अनन्त तक फैली हुई
यह सड़क—
स्वयं चलती जाती है।
इसके विस्तार को
आंखों से जुड़े—
पैमानों से—
मापने की कोशिश में
देखता हूं—
इस सड़क पे आते जाते
असंख्य—

सलोने और भद्दे,
स्वस्थ और बीमार चेहरे—
राजाओं के महल,
मज़दूरों की बस्तियाँ,
जिप्सियों के डेरे।

यह ऐतिहासिक सड़क
अमीर बस्तियों के सामने
अंग अंग बिछा देती है,
पेड़ों के साये में
आराम की बेकार कोशिश करती है।
मटीले घरों के पास
गंवई बास
इसे पुराने अल्हड़ रूप की
याद दिला देती है
और
उसके परिधानों का कसाव
कुछ ढीला पड़ जाता है।
रेगिस्तान की रेत में
किसी बहुत पुरानी
हरयाली की याद में
उमड़ता है विराग
और किसी भिक्षुणी की तरह—
'.........गच्छामि' कह कर
यह आगे बढ़ जाती है—
किसी संघाराम की ओर!

× × ×

शहर के पास
दिखाई देती है अक्सर—
एक बावली भीड़

जिसकी गंदगी—
ढकने की कोशिश में
और उघड़ती जाती है
और
चिलमनों में सजी—
नक़ली ख़ूबसूरती
बेशर्म इशारों से
अपनी बात कहती है।

× × ×

यह सब देखते हुए भी
प्रेमी - प्रेमिकाएं
झूठी कहानियों के अंबार
प्रकाशित करते हैं,
और कविताओं में—
किसी राम के पैरों की धूल का
स्पर्श पाने के दावे भरते हैं।

आंसू गैस और लाठियों की वर्षा के
पीछे बैठा—
एक मोटा कम्प्यूटर सोचता है—
इस सड़क की गति का नियंत्रण
मैं करता हूँ!
जड़!
नहीं जानता—
यह सड़क स्वयं चलती है
किसी के लाख रोके
रुक नहीं सकती;
रुक नहीं सकते—
इसके विभिन्न मूड
और मेरे सामने

इसका उघड़ा हुआ रूप
मुझे
चट्टान कर देता है।

●

ज़िन्दगी बनाम साइकिल

●

साइकिल—
जो कल तक बेहद खूबसूरत थी,
दौड़ती थी—
पीठ पे बिठाके—
इन्द्रधनुष के रंग,
हवा उड़ा देती रेशमी आंचल उसका,
और बच्चे की कमीज़ का दामन
फहरा फहरा जाता।

मगर आज—
सभी रंग —
हुए हैं भंग—
अपना भार लेकर चलने में भी
यह साइकिल अशक्त है,
किसी को दोष क्या दें
बदल ही गया जो
वक्त है !

अब न वह ब्रेक है,
और न
वह स्पीड,
चेन का उतरना तो

अब सैकिण्डों की बात है,
औरों के साथ रेस में
अब तो
मात ही मात है !

जगमोहन

फुटपाथों पर बिछे काले लोग

बंद दीवारों से घिरी
चलती फिरती ज़िन्दा लाशें
दूर वीराने में चमकती रौशनी से
फेर लेती हैं अपनी नज़रें
और खो जाती हैं
नियान लाइटों के तले बिछे फुटपाथों में
दुकानों के बन्द होते दरवाज़ों में
सड़कों को काटती आवाज़ों में ।

ऊंघते चौराहों पर खड़ी ट्रैफिक - लाइटें
थककर लाल रोशनी उगलती हैं
और फुटपाथों पर बिछ जाते हैं काले लोग
जो माथे पर रख अपने हाथ
गुज़रते समय की खनखनाती हंसी के साथ
एक समझौता करने का दम भरते हैं
दिन को जीते, न रात को मरते हैं
सिवाय उन सर्द रातों के
जब धरती के कफन में
कीलों की तरह गढ़े बिजली के पोल
कांपते ठिठुरते हैं ।।

